बनास जन

100

शताब्दी स्मरण

हरिशंकर परसाई

परसाई का लेखन

''व्यंग्य लेखन एक गंभीर कर्म है। कम से कम मेरे लिए। सवाल यह है कि कोई लेखक अपने युग की विसंगतियों को कितने गहरे से खोजता है। उस विसंगति की व्यापकता क्या है और वह जीवन में कितनी अहमियत रखती है। मात्र व्यक्ति की ऊपरी विसंगति--शरीर रचना की, व्यवहार की, बात के लहजे की, एक चीज है और व्यक्ति तथा समाज के जीवन की भीतरी तहों में जाकर विसंगति खोजना, उन्हें अर्थ देना तथा उसे सशक्त विरोधाभास से पृथक करके जीवन से साक्षात्कार कराना दूसरी बात है। सच्चा व्यंग्य जीवन की समीक्षा होता है। वह मनुष्य को सोचने के लिए बाध्य करता है। अपने से साक्षात्कार करता है। चेतना में हलचल पैदा करता है और जीवन में व्याप्त मिथ्याचार, पाखंड, असामंजस्य और अन्याय से लड़ने के लिए उसे तैयार करता है।''[1] आश्चर्य की बात है कि परसाई के निबंधों को अक्सर 'तात्कालिक', 'फौरी किस्म का', 'अखबारी' या 'कहानीनुमा' कहकर खारिज किया जाता रहा है लेकिन अपने परिवेश की जितनी गंभीर राजनीतिक- सामाजिक समझ उनमें है तथा स्थितियों को बदलने की आकांक्षा से जुड़ी प्रतिबद्धता, वह चमत्कृत करने वाला है। उनकी रचनाओं को व्यंग्य और हास्य के पुट के बावजूद हल्के ढंग से या बिना गंभीरता के नहीं लिया जा सकता। उनका साहित्य मूलतः अस्वीकार का साहित्य है। व्यवस्था के प्रति उसका स्वर प्रतिरोध और प्रतिवाद का है। वह व्यक्ति की गरिमा और स्वतंत्रता के पक्ष में दृढ़ता से खड़ा होता है। उनके लिए व्यंग्य समय की धड़कन पहचानने वाला माध्यम है जिसमें आलोचनात्मक यथार्थ और सृजनात्मक कल्पना एक साथ सक्रिय हो उठे हैं।

उनका समस्त लेखन अदम्य जीवनी शक्ति से भरा, व्यंग्य की खिड़की से दीखने वाला ऐसा चित्रपट है जो हमारे समय का आईना है। ऐसा व्यंग्य जो समाज के प्रति करुणा से पैदा होता है। स्मृति, परिवेश, इतिहास और राजनीति सब उसका हिस्सा हैं। यह बात जितनी उनके समय के लिए सच थी उतनी ही हमारे वर्तमान के लिए भी है। उन्होंने स्वतंत्र रूप से अपने लेखन की शुरुआत लगभग आजादी के साथ ही की लेकिन आज, जब हम आजादी का अमृत महोत्सव मना रहे हैं, उनकी रचनाएँ हमसे उसी तरह बात करती हैं जैसे उस दौर में करती थीं। इसी दृष्टि से ही डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने उन्हें वर्तमानता का रचनाकार कहा है, ''परसाई वर्तमानता के रचनाकार हैं। इस कथन का मतलब केवल यह नहीं कि उनके लेखन में आजादी के बाद की स्थितियों का चित्रण है। वर्तमानता उनकी रचनाधर्मिता के केंद्र में है, वह रचनात्मक मूल्य बन गई है।''[2]

अपने आस-पास की जिस सच्चाई को हम रोज सिर्फ घटनाओं के ब्योरों या आँकड़ों की तरह ग्रहण करते हैं, परसाई उन्हीं में उस संकट की पहचान करते हैं जिसने आम आदमी की जिंदगी को इतना विकट कर दिया। व्यवस्था की विसंगतियों के बीच पिसता साधारणजन, बेहद लाचार और विवश होने के कारण हास्यास्पद हो उठा है। परसाई का व्यंग्य लेखन इसी हास्यास्पद स्थिति से जन्म लेता है। वे जिस वर्ग की बात कर रहे हैं, उस जन-मन की आशा-आकांक्षा, सुख-दुःख-पीड़ा, सीमा-संभावना से उनकी अभिन्न साझेदारी है। इसीलिए उनकी रचनाएँ हर उस व्यवस्था या ताकत का विरोध करती हैं जो समाज के इस बड़े वर्ग से उसके आदमी होने का हक छीनना चाहती हैं। वे लिखते हैं, ''मुक्ति अकेले

रेखा सेठी : सुपरिचित आलोचक। अनेक पुस्तकें।
हिंदी विभाग, इंद्रप्रस्थ कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : reksethi22@gmail.com

की नहीं होती। अलग से अपना भला नहीं हो सकता। मनुष्य की छटपटाहट है मुक्ति के लिए, सुख के लिए, न्याय के लिए। पर यह बड़ी लड़ाई अकेले नहीं लड़ी जा सकती है। अकेले वही सुखी हैं जिन्हें कोई लड़ाई नहीं लड़नी।''[3]

परसाई का अनुभव संसार अत्यंत व्यापक है। वे देख रहे हैं कि कैसे व्यवस्था की धुरी बदलती जा रही है। वे लिखते हैं, ''भुखमरी और भ्रष्टाचारी हमारी राष्ट्रीय एकता के सबसे ताकतवर तत्त्व बन गए हैं। धर्म, संस्कृति-दर्शन कमजोर पड़ गए हैं।''[4](अन्न की मौत) किसी भी प्रतिबद्ध लेखक के लिए यह परिवर्तन असह्य है कि समाज एक जीती-जागती ताकत के बजाय राशन की लाइन में खड़ी भीड़ में बदल जाए। न पेट में अन्न है, न सर पर मजबूत छत और फिर भी कहीं कोई विरोध नहीं। सारे अभावों को सहते हुए, आम आदमी में एक अद्‌भुत सहनशीलता पैदा हो गई है जो किसी भी समाज के लिए चिंता का विषय है। परसाई कहते हैं कि हम 'पिटनी बहु' (हस्ती मिटती नहीं हमारी) हो गए हैं जो बिना प्रतिवाद किए अपने स्वामी की मार खाती है और उसके घर से बाहर निकलते ही मुँह धोकर ढोलक लेकर गाने बैठ जाती है, उत्सव मानती है। हम भी 'प्रोटेस्ट' करना भूल गए हैं। अपने परिवेश के प्रति तटस्थता व उदासीनता ने हमें बाँध दिया है। ऐसे समझौते अगर हमें पूरी तरह मिटाते नहीं, तो जीने भी नहीं देते। परसाई इसे 'विक्लांग श्रृद्धा का दौर' कहते हैं जहाँ हर व्यक्ति और संस्था पर से विश्वास उठ गया है। नेता, डॉक्टर, अदालत कोई भी उस स्वार्थ लोलुपता से परे नहीं तो फिर श्रद्धा की अर्थवत्ता क्या है? लेखक स्पष्ट करता है कि श्रद्धेय होने का मतलब है अव्यक्ति होना। 'अव्यक्ति' से उनका तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो किसी भी चीज का विरोध न करे जबकि व्यक्ति की पहचान ही इस बात से होती है कि वह किसका विरोध करता है और कैसे। विकलांग श्रद्धा के दौर में परसाई श्रद्धालुओं से कहना चाहते हैं, ''यह चरण छूने का मौसम नहीं, लात मारने का मौसम है--मारो लात और क्रांतिकारी बन जाओ।''[5]

परसाई के साहित्य में जिस यथार्थ का अंकन है उसे रचने में राजनीति की बहुत बड़ी भूमिका है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में सत्ता और स्वार्थ केंद्रित 'राजनीति' का स्वरूप बहुत हद तक जन-विरोधी ही रहा। परसाई के अनेक व्यंग्य, व लेख ऐसे व्यक्तियों या स्थितियों पर हैं जो तत्कालीन राजनीति के सूत्रधार हैं। इन निबंधों की प्रासंगिकता भले ही अपने दौर में अधिक सशक्त रूप में उभरती हो लेकिन व्यापक परिदृश्य में राजनीति ने आम आदमी के जीवन को जिस तरह नियंत्रित किया और उसके साथ मूल्य व्यवस्था पर जैसे आघात किए उस सन्दर्भ को समझाने में उनका लेखन सक्षम है। सारे अवमूल्यन के पीछे सबसे बड़ी जिम्मेदारी राजनीति की ही है।

आधुनिक काल में राजनीति ने व्यवस्था में सब सक्रिय ताकतों का हिस्सा हड़प कर पूरी व्यवस्था को लील डाला है। दाँवपेच व उठापटक से भरी राजनीति की तस्वीर जिंदगी से भी बड़ी होती जा रही है। परसाई उस सबको उघाड़कर बेनकाब ही नहीं कर रहे हैं, उनके निबंध बारूद में चिंगारी का काम करते रहे हैं। उनकी परिवर्तनकारी भूमिका रही है। वे बराबर अपनी पक्षधरता तय करने को विवश करते हैं और प्रगतिशील जीवन-मूल्यों के प्रति सचेत करते हैं। परसाई ने 'माटी कहे कुम्हार से' संकलन की भूमिका में लिखा है, ''इस लेखन के बारे में मुझे गलतफहमी नहीं है। अनुभव ने सिखाया है कि लेखक का अहंकार व्यर्थ है। हम कोई युग-प्रवर्तक नहीं हैं। हम छोटे-छोटे लोग हैं। हमारे प्रयास छोटे-छोटे हैं। हम कुल इतना कर सकते हैं कि जिस देश, समाज और विश्व के हम नहीं और जिनसे हमारा सरोकार है, उनके उस संघर्ष में भागीदार हों, जिससे बेहतर व्यवस्था और बेहतर इंसान पैदा हों।''[6]

परसाई की सबसे बड़ी ताकत है--उनका 'विजन'। इस दृष्टिबोध के कारण उनका फलक बड़ा है। वे राजनीति पर बात करते हैं तो एक ओर उनकी दृष्टि बिहार के चुनावों पर जाती है (हम बिहार से चुनाव लड़ रहे हैं) तो दूसरी ओर अमरीका के मानव अधिकारों की रट पर (मानवीय आत्मा का अमरीकी हूटर)। परसाई की प्रतिबद्धता जन-सामान्य के प्रति है जो भी उस साधारण जन के संविधान प्रदत्त

न्यायोचित दावों का हनन करता है फिर चाहें वह इमरजेंसी लगाने वालीय (तुसी हुकुम करो जी) वाली चापलूस संस्कृति की कांग्रेस हो; चाहें क्रांति का बिगुल बजाकर सत्ता में आने वाली जनता पार्टी, जिसका शासनकाल जाँच कमीशन का दौर बन कर रह गया। परसाई उन सारी स्थितियों पर चुटकी लेते हैं। वे उस समाजवाद के भी पक्षधर नहीं जो चुनावी राजनीति के चलते प्रतिक्रियावादी ताकतों के साथ हो जाते हैं। उनके लेखन में लगातार विरोध का स्वर उभरता है। उन्होंने अमरीका और ब्रिटेन के सर्वसत्तावाद के विरुद्ध भी लिखा जो वर्षों से मानव-मूल्यों व मानव-अधिकारों का नारा लगाते हुए, वास्तविक स्तर पर मानव-अस्तित्त्व की हत्या करते रहे हैं। आँकड़ों का फरेब इनकी मानव-विरोधी नीतियों का आवरण नहीं बन सकता। परसाई देशी-विदेशी ऐसी सभी प्रतिक्रियावादी शक्तियों को एक ही कठघरे में खड़ा करते हैं। सर्वसत्तावाद को उनकी चुनौती छोटी भले ही लेकिन सार्थक है क्योंकि उसका स्वर मानवीय अहसास के विकास के लिए गूँजता है।

परसाई का लेखन किनारे बैठे दर्शक का लेखन नहीं है। वह लोकतांत्रिक प्रणाली में सक्रिय योगदान देना चाहते हैं और इस अभियान में उनका हथियार है--पत्रकारिता। वे पत्र-पत्रिकाओं में नियमित कॉलम लिखते हैं जिनका उद्देश्य है सामाजिक उदासीनता और जड़ता को तोड़ना। अपने आरंभिक दिनों के संघर्ष के विषय में वे अपने आत्मकथ्य 'गर्दिश के दिन' में लिखते हैं, ''मैंने तय किया--परसाई, डरो किसी से मत। डरे कि मरे। सीने को ऊपर-ऊपर कड़ा कर लो। भीतर तुम जो भी हो, जिम्मेदारी को गैर जिम्मेदारी के साथ निभाओ। जिम्मेदारी को अगर जिम्मेदारी के साथ निभाओगे तो नष्ट हो जाओगे। और अपने से बाहर निकलकर सबमें मिल जाने से व्यक्तित्त्व और विशिंष्टता की हानि नहीं होती, लाभ ही होता है। अपने से बाहर निकलो। देखो, समझो और हँसो!''[7] परसाई हँसी-हँसी में पूरी व्यवस्था का मखौल उड़ाते हुए अपना लेखकीय दायित्व तय करते हैं, ''मेरा अनुमान है मैंने लेखन को दुनिया से लड़ने के लिए एक हथियार के रूप में अपनाया होगा। दूसरे, इसी से मैंने अपने व्यक्तित्त्व की रक्षा का रास्ता देखा। तीसरे, अपने को अविशिष्ट होने से बचाने के लिए मैंने लिखना शुरू कर दिया।''[8] परसाई के लेखन को एक तरह से स्वातंत्र्योत्तर भारत का संकेतक कहा जा सकता है। उनके निबंध व कहानियाँ हमारे समाज व राजनीति की बुनावट को समझने का अनिवार्य संदर्भ हैं।

भारतीय मनीषा व जन-साधारण के लिए 'स्वाधीनता मात्र एक राजनीतिक घटना नहीं' थी। वह एक स्वप्न था--परिवर्तन का, नई व्यवस्था का, स्वराज का किन्तु छलपरक मूल्यविहीन राजनीति तथा भ्रष्ट प्रशासन तंत्र ने मिलकर भारतीय लोकतंत्र को संपन्न शोषक वर्ग के हाथ की कठपुतली बना दिया। शासक और शोषक का गठबंधन लोकतांत्रिक व्यवस्था से बराबर खिलवाड़ कर रहा है। इस चक्रव्यूह ने जनसाधारण के लिए जो स्थितियाँ पैदा की हैं उनमें, गरीबी, भ्रष्टाचार, अशिक्षा, स्वास्थ्य जैसी अनेक समस्याएँ तो हैं ही लेकिन उससे भी बढ़कर दंश इस बात का है कि जनता बराबर गधे की तरह बेवकूफ बने जा रही है और अपने इस शोषण से पूरी तरह बेखबर है। यही कारण है कि उनमें मुक्ति का कोई प्रयत्न दिखाई नहीं पड़ता। परसाई इस स्थिति को नहीं स्वीकारते। उनमें राजनेताओं द्वारा जनता पर लादे गए भ्रमभंग के प्रति तीखा आक्रोश और विद्रोह है। वे बार-बार साधारण-जन को ललकारते हैं कि उठो और इस यथास्थिति के विरुद्ध लड़ो।

उन्होंने अपने देशवासियों की आशा-आकांक्षाओं, जीवन-संघर्ष, असंगतियों-अंतर्विरोधों को भली प्रकार अभिव्यक्त किया है। वे देख रहे हैं कि आम आदमी दो तरफा छला जा रहा है, एक ओर राजनीति से तो दूसरी ओर धर्म और अध्यात्म के पाखण्ड से। इस सबके प्रति लेखक के मन में एक अजब प्रेम-घृणात्मक संबंध है। अपने देश और अपने लोगों के प्रति प्रेम और आत्मीयता के कारण उन्हें गहरा दुःख है, स्थितियों को सुधारने की बैचैनी है। यह सब देखने की विवशता है तो कभी जनता की जड़ता पर क्रोध भी है। उन्हें युवा शक्ति से बहुत आशा है और उनकी दिशाहीनता, किंकर्तव्यविमूढ़ता पर गहरा

क्षोभ भी। उनका समूचा लेखन व्यक्ति को सामाजिक इकाई मानकर ही चित्रित कर रहा है। अतः उसका सामाजिक आचरण अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति का आचरण केवल उस तक सीमित नहीं समाज का आदर्श उस पर टिका है। इसलिए परसाई समाज के तथाकथित ठेकेदारों के सामाजिक आचरण को अपने व्यंग्य के केंद्र में रखकर उस पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं।

आज जो चिंताएँ हमें सता रही हैं परसाई की दूरदृष्टि ने बरसों पहले उनका संकेत कर दिया है। 'लुच्चन की भीड़' में परसाई सांस्कृतिक दिवालियेपन पर अंगुली रखते हैं जहाँ बाजारवाद प्रत्येक वस्तु को 'माँग और वितरण' की तुला पर तौल रहा है। प्रतिस्पर्धा के दौर में युद्ध-सामग्री भी वह वस्तु हो गई जिसकी माँग बढ़नी चाहिए, जिसका बाजार बढ़ना चाहिए, जिसके लिए नित नए उपभोक्ता चाहिए, फिर भले ही उसके विकास का अर्थ 'मनुष्य की मृत्यु' ही क्यों ना हो? अपने आर्थिक विकास के लिए युद्ध का बाजार फैलाना कितना अश्लील, कितना शर्मनाक विचार है। बड़े देशों ने छोटे देशों के साथ यही किया, संपन्न वर्गों ने निम्न व मध्य वर्ग के साथ यही किया। अपनी संपन्नता व उत्कृष्टता की नुमाइश में बाकी सबका हाशियाकरण लगातार चलने वाली प्रक्रिया है। संपत्ति की सत्ता या धन की महत्ता ने सभी को प्रभावित किया। चाहें वह संपन्न वर्ग हो या सड़क पर भीख माँगते, माँ और बच्चे जो चंद सिक्कों के लिए एक दूसरे को पहचानने से इंकार कर देते हैं। (माँ और भाई) बाजार संस्कृति का साम्राज्य जिस चरम उपभोक्तावाद व संबंधहीनता को विकसित कर रहा है परसाई उस अंतर्विरोध को रेखांकित करने से नहीं चूकते। ग्लैमर की चकाचौंध से भरी विज्ञापन की दुनिया किस तरह स्त्री को वस्तु में तब्दील किए दे रही है, परसाई को इस स्थिति से चिढ़ है लेकिन इसके ही साथ उन्हें उस स्थिति से भी उतनी ही चिढ़ है जो नाम के लिए तो स्त्री सशक्तीकरण के पक्षधर बनते हैं किन्तु 'वो जरा वाइफ, है न' कहकर उसे घर का मुरब्बा बनाकर रखे हुए हैं।

स्त्री की विवशता के ही समान, उनकी नजर साहित्यकारों की दयनीयता पर भी टिकी है। वह छोटी-छोटी इच्छाएँ करता है, बैंक में खाता खोलने या इन्कम टैक्स भरने की, पर उसकी ये हसरतें पूरी नहीं हो पातीं (दो छोटी इच्छाएँ)। वह साहित्य में दो नंबर के कारोबार में शामिल होता है, तीसरे दर्जे का श्रद्धेय बनकर फर्स्ट क्लास का किराया लेकर तीसरे दर्जे में सफर करता है आदि। इन सब निबंधों में परसाई स्वयं पर और अपने जैसों पर ही हँस रहे हैं जबकि दूसरी ओर परसाई ने लेखक के सामाजिक दायित्व, राज्य से उसके संबंध, राज्य द्वारा लेखक के संरक्षण, सम्मान, उसकी सहमती-असहमति के प्रश्नों को पूरी गंभीरता के साथ उठाया है। प्रेमचंद जयंती पर हुए वितंडावाद और या फिर मुक्तिबोध की बीमारी पर मचाए गए शोर की भी वे जमकर खबर लेते हैं।

उनके अनुसार लेखक का पहला धर्म 'रचनात्मक' होना है साहित्य में भी और समाज में भी। उसे जनता की आकांक्षाओं का अग्रदूत होना है। लेकिन इसके लिए न उसे छद्म क्रांतिकारी मुद्रा ओढ़ने की आवश्यकता है, न थोथी दार्शनिकता या कोरी उपदेशात्मकता की। उन्होंने स्वयं परिवेश की जटिलता को महसूस किया। जीवन में फैली विसंगतियों, अन्याय, छल, पाखंड, दोमुँहेपन, अवसरवाद, असामंजस्य आदि को देखकर ही उनकी संवेदना का विकास हुआ है लेकिन उन्हें यह भी एहसास रहा कि यह सब उस रोग की तरह है जो नसों तक फैल गया है। उसे एक झटके में काटकर अलग नहीं किया जा सकता, उसके मवाद की बदबू और पीड़ा को सहना ही होगा। परसाई इस विवशता को समझते हैं फिर भी उनका स्वर निराशा या मायूसी से भरा नहीं है, न ही उसमें मूर्तिभंजक विद्रोह का शंखनाद सुनाई पड़ता है। वे अपनी लाचारी पर हँस देते हैं। उस परिवेश का मखौल उड़ाते हैं जिसका हिस्सा वे स्वयं हैं और इसी प्रक्रिया में कहीं भीतरी सतह पर अपना अस्वीकार दर्ज करते हैं। वे इस अँधेरे में पुकारना चाहते हैं, जगाना चाहते हैं, मोहभंग के उस सन्नाटे में असंतोष की प्रतिध्वनि बनकर प्रकट और विकट हो जाना चाहते हैं। उन्होंने लिखा, "मेरा कर्तव्य है कि मैं यह सन्नाटा तोड़ूँ।"

परसाई का रचनात्मक उद्देश्य इतना बड़ा है कि वह किसी परंपरागत विधा के ढाँचे में समा नहीं पाया। उनके लिए उनका कथ्य सबसे महत्त्वपूर्ण है और उसकी अभिव्यक्ति के लिए वे स्वयं को किसी एक विधा की संभावनाओं तक ही सीमित नहीं करते। वे निबंध लिखते हुए कहानी कहने लगते हैं और कहानी कहते हुए रिपोर्ताज बनने लगता है। विधागत शुद्धता के नाम पर उन्होंने ऐसा करने से जरा भी परहेज नहीं किया तथा परंपरागत विधा लेखन के चौखटों को बराबर तोड़ा है। बड़े लेखक की पहचान ही यह है कि उसका लेखन शास्त्रबद्ध, साँचे ढले रूपों को चुनौती देता है, परसाई ने भी ऐसा ही किया। उन्होंने 'व्यंग्य' को ही स्वतंत्र विधा का रूप दे दिया, जो उनके यहाँ रचना के आंतरिक गठन का हिस्सा बनकर आया है। इस व्यंग्य विधा के कारण ही परसाई जनता के लेखक हैं। उनका समग्र लेखन साहित्य की नई रुचि और संस्कार का परिचय देता है।

परसाई की निबंध शैली पर टिप्पणी करते हुए कमला प्रसाद ने लिखा,"ठंडे समाज में स्थिर सौंदर्यबोध और पूर्व निर्धारित राष्ट्रीय शैली बहुत समय तक काम करती है, पर आजाद समाज में लेखकों की निजी शैलियाँ फूटने लगती हैं। ....काल की ऐसी ही घड़ी में परसाई ने अपने निबंधों की शैली खोजी, रचनात्मक मानक बनाए और सटीक भाषा रची। उन्होंने भाषा में संवेदनात्मक प्रयोजन उभारा। इसी कारण उनकी शैली में एक ऐसा नया तत्त्व उभरा कि लोग चकित हो गए। x x x परसाई की निबंध शैली एक तरह से उनकी अधिकतम आजाद नागरिक और सांस्कृतिक कर्मी की मिसाल है। यह कला के क्षेत्र में जनतंत्रीकरण का प्रयास है।"[9]

परसाई की तुलना बराबर प्रेमचंद से की जाती रही है। वे भी स्वयं को उसी परंपरा में मानते हुए, 'प्रेमचंद के फटे जूते' निबंध में उन्हें 'मेरे साहित्यिक पुरखे' कहकर याद करते हैं। जिस प्रकार प्रेमचंद का साहित्य स्वाधीनतापूर्व भारत के इतिहास का साक्षी है उसी प्रकार परसाई का लेखन स्वातंत्र्योत्तर भारत के आर्थिक, सामजिक, राजनीतिक परिवेश का जीवंत दस्तावेज है लेकिन लेखकीय दायित्व की दृष्टि से परसाई का संकल्प अत्यंत जटिल है। प्रेमचंद की ही तरह परसाई ने मुक्तिबोध को भी भावपूर्ण ढंग से याद किया। प्रेमचंद और मुक्तिबोध की ही तरह, परसाई ने सामाजिक परिवर्तन का दायित्व स्वयं पर लिया। अपने अडिग संकल्प पर उन्होंने लिखा, "पैंतीस साल अपने विश्वासों को मजबूती से पकड़कर, बिना समझौते के, मैंने जो सही समझा, लिखा है। जो कुछ मानव-विरोधी है, उस पर निर्मम प्रहार किया है। नतीजे भोगे हैं, अभी भोग रहा हूँ, आगे भी भोगता जाऊँगा। पर मैं लगातार उसी स्फूर्ति, शक्ति और विश्वास से लिखता जा रहा हूँ।"[10] परसाई का यह साहस ही उन्हें हिन्दी साहित्य की अक्षुण्ण धारा का स्थायी निवासी बनाता है।

संदर्भ

1. व्यंग्य क्यों? कैसे? किसलिए?, परसाई रचनावली, भाग 6, पृ. 249
2. विश्वनाथ त्रिपाठी, देश के इस दौर में, पृ. 11
3. गर्दिश के दिन, परसाई रचनावली, भाग 4, पृ. 452
4. अन्न की मौत, हरिशंकर परसाई : निबंधों की दुनिया पृ. 82
5. विकलांग श्रद्धा का दौर, हरिशंकर परसाई, निबंधों की दुनिया पृ. 54
6. परसाई रचनावली, भाग 6, पृ. 255
7. गर्दिश के दिन, परसाई रचनावली, भाग 4, पृ. 451
8. वही, पृ. 452
9. कमलाप्रसाद, हरिशंकर परसाई की निबंध-कला, परसाई रचनावली, भाग 3, पृ. 6-7
10. परसाई रचनावली, भाग 1, पृ. 2